

# दिकार्मिक पोर्ट

तर्फ़ : 7, अंक : 15

(प्रति बुधवार), इन्डौर, 1 दिसंबर से 7 दिसंबर 2021

पेज : 8 कीमत : 3 रुपये

## शहरों के सतही तापमान को 12 डिग्री तक कम करते हैं पेड़ - अध्ययन

नड़ दिल्ली। शहरों में लगे पेड़ गर्मी और लोगों के स्वास्थ्य, ऊर्जा की खपत व अन्य खराब प्रभावों को कम कर सकते हैं। शहरों में लगे पेड़-पौधे और अन्य बनस्पतियां ग्रीष्मकाल में पड़ने वाली गर्मी को कम करने में अहम भूमिका निभाते हैं।

ये पेड़ शहरों में भूमि की सतह के तापमान को 12 डिग्री सेल्सियस तक कम कर सकते हैं। एक शोध में यह बात सामने आई है। यह शोध ईटीएच ज्यूरिख के इंस्टीट्यूट फॉर एट्मोसफेरिक एंड क्लाइमेट साइंस के शोधकर्ताओं ने किया है। इस शोध में शोधकर्ताओं की टीम ने बताया कि उन्होंने यूरोप भर के सैकड़ों शहरों के उपग्रह इमेजरी का विश्लेषण



किया और तापमान के बारे में पता लगाया। पहले किए गए शोधों ने भी इस बात का खुलासा किया है कि शहरों में हरे भरे स्थान गर्मी के महीनों के दौरान हवा के तापमान को कम करने में मदद करते हैं। शहर आमतौर पर गर्मी को अवशोषित करने वाले डामर और सीमेंट के बड़े-बड़े हिस्सों के चलते आसपास के क्षेत्रों की तुलना में अधिक गर्मी होते हैं। इस नए प्रयास में, शोधकर्ताओं ने हवा के तापमान के बजाय भूमि की सतह के क्षेत्रों पर संभावित तापमान के प्रभावों को देखा। इस तरह के तापमान को आसपास के लोगों द्वारा हवा के तापमान के रूप में महसूस नहीं किया जाता है क्योंकि यह उनके आसपास के बजाय उनके पैरों के नीचे होता है। टीम द्वारा किए गए कार्य में

भूमि की सतह का तापमान, सेंसर आधारित उपग्रहों के अंकड़ों का विश्लेषण शामिल था। कुल मिलाकर, शोधकर्ताओं ने पूरे यूरोप के 293 शहरों के अंकड़े शामिल किए। उन शहरों के कुछ हिस्सों में भूमि की सतह के तापमान की तुलना की गई। पेड़ों से ढके शहरी क्षेत्रों की तुलना जो इलाके पेड़ों से ढके नहीं थे उनसे की गई। तुलनात्मक उद्देश्यों के

लिए, उन्होंने चरागाहों और खेत की भूमि में शामिल ग्रामीण व्यवस्था के लिए भी ऐसा ही किया। यह शोध नेचर कम्युनिकेशन्स नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। उन्होंने पाया कि पेड़ों वाले शहरी क्षेत्रों में आमतौर पर भूमि की सतह का तापमान आस-पास के समान क्षेत्रों की तुलना में जहाँ पेड़ नहीं हैं वह दो से चार गुना ठंडा होता है। दक्षिणी यूरोप के कुछ हिस्सों में आस-पास के क्षेत्रों की तुलना में इस तरह के बदलाव कम पाए गए हैं। अन्य क्षेत्रों में, जैसे कि मध्य यूरोप में यह अंतर बहुत बड़ा था। दिलचस्प बात यह है कि शोधकर्ताओं ने ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसा कोई अंतर नहीं पाया। उन्हें शहरों में अन्य प्रकार की बनस्पतियों में भी

कोई अंतर नहीं मिला। शोधकर्ताओं ने गैर किया कि पेड़ द्वारा प्रदान की जाने वाली छाया के कारण जमीन ठंडी बनी रहती है। जिससे पता चलता है कि वे इसी तरह से सतह के तापमान को कम करने में मदद करते हैं। उनका काम उस प्रभाव को उजागर करता है जो शहरी क्षेत्रों में वृक्षों के आवरण को बढ़ाने से हो सकता है।

## जंगल की आग से सेहत को हो रहा है भारी नुकसान

मुबर्द। आग से निकलने वाले धूएं से हर साल दुनिया भर में समय से पहले 2 लाख से अधिक मौतें हो जाती हैं। वैज्ञानिक जानना चाहते हैं कि जंगल की आग के धूएं में ऐसा क्या है जो इसे प्रदूषण के अन्य रूपों की तुलना में मनूष्यों के लिए अधिक हानिकारक बनाता है। वैज्ञानिक धूएं के स्वास्थ्य पर कम और लंबे समय में पड़ने वाले प्रभावों की पड़ताल कर रहे हैं। इस बारे में पता लगाना अहम हो जाता है कि, जंगल में लगने वाली आग की बजह से हजारों किलोमीटर तक फैलने वाले धूएं में लोगों को सुरक्षित और स्वस्थ कैसे रखा जाए।

हाल के बारों में जंगल में आग लगने की घटनाओं में तेजी आई है। जलवायु परिवर्तन दुनिया भर में सूखे और लू को बढ़ा रहा है। यह उस क्षेत्र को लगभग दोगुना कर रहा है जहाँ चिंगारी सूखी बनस्पति में आग लगा सकती है और खतरे को भयावह रूप दे सकती है। नतीजतन, दुनिया भर में जंगलों में बार-बार लगने वाली आग का आकार और तीव्रता बढ़ रही है और धूएं के मौसम लंबे होते जा रहे हैं। पिछले एक दशक में जंगल की आग ने पश्चिमी संयुक्त राय को तबाह कर दिया है। लेकिन अन्य देशों ने भी अपने जीवन की सबसे भयंकर आग का सामना किया है। इस साल रूस के साइबेरिया क्षेत्र में लगी आग ने दुनिया के अन्य सभी आग लगने घटनाओं की तुलना में एक बड़ा क्षेत्र जला दिया है। ऑस्ट्रेलिया अभी भी अपने 2019 और 20 में झाड़ियों में लगी आग से जूझ रहा है। विनाशकारी या जिसे बोलचाल की भाषा में ब्लैक समर कह जाता है, जिसने हजारों घरों को नष्ट कर दिया और कम से कम 30 लोगों और लाखों जानवरों को मार डाला। स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी के पर्यावरण अर्थशास्त्री सैम हेफ्ट-नील कहते हैं कि पिछले 5 बारों में जंगल में लगने वाली

आग की घटनाओं ने स्वास्थ्य को होने वाले खतरों को बढ़ा दिया है। जंगल की आग के धूएं में दर्जनों अलग-अलग तरह के कण होते हैं, जैसे कि कालिख और रसायन। जिनमें कार्बन मोनोऑक्साइड शामिल है, लेकिन वायु गुणवत्ता के विशेषज्ञों के लिए मुख्य चिंताओं में से एक धूएं में पाए जाने वाले सूक्ष्म कण पीएम 2.5 हैं। पीएम 2.5 माइक्रोमीटर या उससे कम की माप के अंतर्गत आते हैं। पीएम 2.5 इंसान के बाल की चौड़ाई के औसतन 1/40वें भाग के बराबर होते हैं। अध्ययनकर्ता पूर्विकी के साथ काम करने वाले अग्निशामकों को इस पीएम 2.5 की अधिक मात्रा का सामना करना पड़ेगा। लेकिन बोस्टन, मैसाचुसेट्स में हार्वर्ड ट्रीएच चैन स्कूल ऑफ पब्लिक हेल्थ के एक बायोस्टैटिस्ट फार्मसेस्का डोमिनिकी के अनुसार, सांस लेने के लिए सुरक्षित सूक्ष्म कणों की कोई मात्रा नहीं है क्योंकि यह फेफड़ों की सबसे छोटी दरारों में गहराई तक घुसने के लिए जाने जाते हैं और रक्त प्रवाह में प्रवेश कर जाते हैं। ऑस्ट्रेलिया के होबार्ट में तस्मानिया विश्वविद्यालय में एक पर्यावरण महामारी विज्ञानी जॉन्स्टन कहते हैं कि जब धुआं वायु मार्ग में प्रवेश करता है, तो शरीर प्रतिक्रिया करता है जैसे वह रोगानु और संक्रमण होता है। यह शारीरिक परिवर्तनों के एक पूरे समूह के साथ सामने आता है। यह हामोन कोर्टिसोल और रक्त ग्लूकोज स्पाइक, जो बदले में हृदय की लय में बदलाव करता है और इससे रक्त के थके बनने की अधिक आशंका होती है। फेफड़ों की परत में सूजन आ जाती है, जिससे सांस लेना मुश्किल हो जाता है। उन्होंने अग्निशामकों की ओर रुख करते हुए कहा कि, जो लोग व्यावसायिक स्तर पर धुएं के खतरों का सामना करते हैं, वह उनके बायोमार्कर में किसी भी बदलाव का पता लग सकता है।

# दुनिया भर में चरने वाले जानवरों की विलुप्ति से आग की घटनाओं में हुई वृद्धि

मुंबई। दुनिया भर में चरने वाले जानवरों की विलुप्ति से आग की घटनाओं में हुई वृद्धिहजारों साल पहले, दुनिया के कई सबसे बड़े घास के मैदानों को चरने वाले जानवर विलुप्त हो गए। इन विशालकाय जानवरों में ऊनी मैमथ, विशाल बाइसन और प्राचीन घोड़े शामिल थे। येल विश्वविद्यालय के नेतृत्व में किए गए अध्ययन के मुताबिक, इन चरने वाली प्रजातियों के नुकसान के चलते दुनिया के घास के मैदानों में आग की घटनाओं में नाटकीय वृद्धि हुई है।

यूटा प्राकृतिक इतिहास संग्रहालय के सहयोग से, येल विज्ञानिकों ने चार महाद्वीपों में विलुप्त हुए बड़े स्थानधारियों और उनके विलुप्त होने की अनुमानित तिथियों की सूची तैयार की। आंकड़ों से पता चला कि दक्षिण अमेरिका में सबसे अधिक चरने वाली, सभी प्रजातियों का 83 फीसदी का नुकसान हो गया है। इसके बाद उत्तरी अमेरिका में यह आंकड़ा 68 फीसदी का रहा। इसी तरह का नुकसान ऑस्ट्रेलिया में 44 फीसदी और अफ्रीका 22 फीसदी रहा। फिर अध्ययनकर्ताओं ने इन निष्कर्षों की तुलना झील के तलछट या गाद में छिपी आग संबंधी गतिविधि के रिकॉर्ड के साथ की। दुनिया भर के 410 इलाकों के चारकोल के रिकॉर्ड का उपयोग करते हुए, जिससे महाद्वीपों में क्षेत्रीय आग की गतिविधि का एक ऐतिहासिक रिकॉर्ड हासिल हुआ। उन्होंने पाया कि चरने वाले बड़े जानवरों के विलुप्त होने के बाद आग की गतिविधि में वृद्धि हुई। जिन महाद्वीपों ने सबसे अधिक चरने वाले जानवरों का नुकसान झेला उनमें दक्षिण अमेरिका, उत्तरी अमेरिका शामिल है। इन इलाकों में आग लगने की सीमा में बढ़ी वृद्धि देखी गई। जबकि महाद्वीपों में विलुप्त होने की कम दर ऑस्ट्रेलिया और अफ्रीका में रही जहां घास के मैदानों में आग की गतिविधि में थोड़ा बदलाव देखा गया। येल के पारिस्थितिकी और विकासवादी जीव विज्ञान विभाग के

सहयोगी और अध्ययनकर्ता एलिसन कार्प ने कहा इन विशालकाय जानवरों के विलुप्त होने के परिणामस्वरूप काफी बदलाव आया। इन प्रभावों का अध्ययन करने से हमें यह समझने में मदद मिलती है कि आज शाकाहारी जीव वैश्विक पारिस्थितिकों को कैसे आकार देते हैं। व्यापक रूप से विशाल शाकाहारी जानवरों के विलुप्त होने का पारिस्थितिक तंत्र पर बड़ा प्रभाव पड़ा। शिकारी जानवरों से लेकर फल वाले पेड़ों के नुकसान तक जो कभी अलग-अलग हिस्सों में फैलने के लिए शाकाहारी जानवरों पर निर्भर थे। लेकिन अध्ययनकर्ताओं ने सोचा कि क्या दुनिया के पारिस्थितिक तंत्र में आग की गतिविधि में बृद्धि हुई है, विशेष रूप से सूखी घास, पत्तियों के कारण। उन्होंने पाया कि विशाल शाकाहारियों के नुकसान के कारण घास के मैदानों में आग बढ़ गई। हालांकि, कार्प और स्टावर ने इस बात पर भी गौर किया कि कई प्राचीन चरने वाली प्रजातियाँ- जैसे कि मास्टोडॉन, डिप्रोटोडॉन और विशाल स्लॉथ, जो जंगली क्षेत्रों में ज़ाड़ियों और पेड़ों पर रहते थे। ये भी इसी अवधि के दौरान विलुप्त हो गए थे, लेकिन उनके नुकसान का आग पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा था। यह अध्ययन जर्नल साइंस में प्रकाशित हुआ है। आग में बृद्धि के कारण जड़ी-बूटियों के नुकसान और चराई वाले घास के नुकसान के बाद दुनिया भर में घास के मैदानों के पारिस्थितिकी तंत्र बदल गए थे। पशुओं सहित नए चरवाहे अंततः नए पारिस्थितिक तंत्र में हल गए। अध्ययनकर्ताओं ने कहा इसलिए वैज्ञानिकों को आग और जलवायु परिवर्तन से निपटने संबंधी जंगली चरवाहों की भूमिका पर विचार करना चाहिए। स्टावर ने कहा यह काम वास्तव में इस बात पर प्रकाश डालता है कि आग की गतिविधि को आकार देने के लिए चराई कितनी महत्वपूर्ण हो सकती है। अगर हम भविष्य में लगने वाली आग के बारे में सटीक भविष्यवाणी करना चाहते हैं तो हमें इन सब पर परा ध्यान देना होगा।

## इंसानी गतिविधियों के चलते तेजी से कम हो रहे हैं कशोरुकी जीव

न्यजर्सी। दुनिया भर में हो रहे बदलाओं के चलते पृथ्वी में बड़े पैमाने पर जीवन नष्ट हो रहा है। इंसानों के द्वारा किए जाने वाले कार्यों और सेवाओं के साथ-साथ नुकसान भी होते हैं। इस सबके चलते पिछले दशकों में कई प्रजातियों के विलुप्त होने में तेजी आई है।

**सामान्यतः** यह माना जाता है कि वैधिक जैव विविधता को होने वाला यह वर्तमान नुकसान पारिस्थितिक तंत्र के न ढल पाने की कमी की बजह से है। जैसे, पारिस्थितिक तंत्र के लचीलेपन को संरक्षित करना एक प्रमुख संरक्षण उद्देश्य बन गया है। अब ब्रिस्टल विश्वविद्यालय के शोधकर्ताओं ने इस बात का पता लगाया है कि कैसे प्रजातियां बढ़ते पर्यावरणीय दबावों का मुकाबला कर रही हैं। शोध से पता चलता है कि बन्यजीवों पर मानव प्रभावों के चलते दुनिया भर में कशेरुकियों के बातावरण में ढलने को आधित कर रहा है। जिससे कशेरुक जीवों का तेजी से नुकसान हो रहा है। स्कूल ऑफ बायोलॉजिकल साइंस के डॉ पोल कैपडेविला ने कहा की पिछले दशकों में कशेरुकी प्रजातियों के किसी बातावरण में ढलने का तरीका या लचीलापन कैसे बदल गया है। इस बारे में दुनिया भर के आकलन अध्ययन से पहले नहीं थे। दुनिया भर में ढलने संबंधी नुकसान की धारणा का सही ढग से आकलन नहीं किया गया था। अध्ययनकर्ताओं ने कहा की इस अध्ययन में, हमने मूल्यांकन किया कि दुनिया भर में स्तनधारियों, पक्षियों, उभयचरों, सरीसृपों और मछलियों की प्रजातियों सहित कशेरुकी आबादी में बातावरण के अनुरूप ढलने या लचीलापन समय के साथ कैसे बदल रहा है। उन्होंने कहा की हमने यह भी परीक्षण किया कि दुनिया भर में रेसिलिएंस या लचीलापन की संभावित गिरावट को तेज करने वाले मुख्य कारक कौन से हो सकते हैं। अध्ययनकर्ता ने बताया कि हमारे अध्ययन से समुद्री, भौठे पानी और स्थलीय पारिस्थितिक तंत्रों में ढलने या लचीलेपन के वैधिक नुकसान का पता चलता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि, हमने पाया कि जलवायु परिवर्तन, आक्रामक प्रजातियों, आबास का नुकसान, प्रदूषण जैसे मानवजनित खतरों के चलते इनके ढलने या लचीलापन का नुकसान तेजी से हो रहा है। चूंकि कशेरुक प्रजातियां दुनिया भर में पारिस्थितिक तंत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। शोध से पता चलता है कि ढलने या लचीलेपन की हानि के चलते कशेरुकी आबादी भविष्य के खतरों के प्रति सबसे अधिक संवेदनशील होगी।

# व्हेल हर रोज निगल रही है लाखों की संख्या में माइक्रोप्लास्टिक

साइंस ऑफ द टोटल एनवायरनमेंट एक नए अध्ययन से पता चला है कि क्षेत्र प्रतिदिन लगभग 30 लाख माइक्रोप्लास्टिक निश्चल रही है। अध्ययन में पाया गया है कि प्रत्येक क्षेत्र के प्रति चम्मच मल में औसतन पाँच माइक्रोप्लास्टिक होते हैं। यह अध्ययन ऑकलैंड विश्वविद्यालय के नेतृत्व में एक्सेटर विश्वविद्यालय के सहयोग से एक अंतरराष्ट्रीय टीम द्वारा किया गया है।

शोधकर्ताओं ने क्लेल वॉच कंपनी ऑकलैंड क्लेल और डॉल्फिन सफारी के सहयोग से न्यूज़ीलैंड में एकत्र किया। शोधकर्ताओं ने कहा अभी तक किए गए अध्ययनों में हर समुद्री वातावरण माइक्रोप्लास्टिक का सामना किया जाता है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। क्लेल, मटा रे और क्लेल शार्क जैसे समुद्री शिकारी जो खाने को छानते हैं, या बड़ी मात्रा में समुद्र से भोजन निकालते हैं, पर्यावरण और भोजन से माइक्रोप्लास्टिक के संपर्क को समझने का एक तरीका बताते हैं। अध्ययनकर्ता लौरा जाटिस ने कहा कि जब क्लेल भोजन करती हैं तो वे अपने पर्यावरण और शिकार दोनों का लगातार अनुमान ले रही होती हैं। उन्होंने कहा हम यह समझना चाहते थे कि वे प्रत्येक दिन कितने माइक्रोप्लास्टिक को निगल जाते हैं और क्या वे माइक्रोप्लास्टिक क्लेल के भोजन में थे या भोजन के दौरान निगले गए पानी से थे। शोध दल ने डीएनए का उपयोग यह पता लगाने के लिए किया कि क्लेल मुख्य रूप से क्रिल जैसे छोटे जोप्लांकटन खा रही थीं। अध्ययन में अनुमान लगाया गया है कि हर बार जब क्लेल शिकार को पकड़ती हैं तो लगभग 25,000 माइक्रोप्लास्टिक को निगल लेती है। अध्ययनकर्ता डॉ. एम्मा कैरोल ने कहा कि प्रत्येक निवाले में से अधिकांश 25,000 माइक्रोप्लास्टिक शिकार से आते हैं, जिनमें से 1,000 केवल पानी से आते हैं और इससे पता चलता है कि माइक्रोप्लास्टिक खाद्य श्रृंखला को कैसे प्रभावित करता है। शोधकर्ताओं ने अनुमान लगाया कि क्लेल प्रतिदिन 100 से अधिक कौर भोजन खाती हैं। इन सभी को मिलाकर, अध्ययन में अनुमान लगाया गया है कि क्लेल प्रतिदिन लगभग 30 लाख माइक्रोप्लास्टिक की खपत करती हैं। जाटिस ने कहा माइक्रोप्लास्टिक के संपर्क में आने से होने वाले खतरे पर, भविष्य के अध्ययनों को इन प्रदूषकों के स्तर को निर्धारित करने के लिए, भोजन के साथ-साथ पानी के नमूने की भूमिका को समझने की आवश्यकता है। अध्ययनकर्ता बताते हैं छानने वाले जानवरों में माइक्रोप्लास्टिक प्रदूषण को मापने का एक नया तरीका सुझाते हैं। एसोनकसान को उजागर करते हैं। अध्ययन के निष्कर्ष भविष्य में प्लास्टिक प्रदूषण को कम करने के



कि हमारे निष्कर्ष इस वैधिक खतरे को बेहतर ढंग से समझने के लिए सभी खाने को सिएट प्रोफेसर कॉन्सटेंटाइन ने कहा कि निष्कर्ष होराकी खाड़ी के पर्यावरण को हो रहे लिए कार्य करने की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हैं।

# पर्यावरण की पाठशाला बन सकता है सिनेमा

अग्रिम ग्रन्थकार की फिल्म 'शेरनी' के वलाइनेक्स में हम नायिका विद्या बालन को एक न्यूज़ियम में देखते हैं, जहाँ संरक्षित किए तमाज जीव-जंतुओं के बीच उनकी मौजूदगी उतनी ही बेतुकी लगती है, जितने संरक्षित किए गए जंगली जानवर। 'शेरनी' हाल के दिनों में आई एक नहत्यापूर्ण फिल्म इसलिए है कि

यह बिना किसी धिसे आदर्शवाद का सहारा लिए मनुष्य और वन्य जीवन तथा हमारी सरकारी मशीनरी के अंतर्संबंधों को परत-दर-परत खोलती है। फिल्म एक नए अर्थों में जेंडर विर्मार्थ को भी सामने लाती है। नायिका विद्या जो एक वन्य अधिकारी है बतौर द्वितीय वन्य जीवन के संरक्षण, मनुष्य और जंगल के बीच हो रहे संघर्ष के प्रति चिंतित है। वह साहसी है, तेज है और उसे हालात को काबू में करना आता है मगर धीरे-धीरे पूरा सिल्टम उसे हाथिये पर धकेलता जाता है

और अंत में वह खुद को एक नेहरूल हिट्री के न्यूज़िम ने देखती है। वह फिल्म बहुत गहरे तक उद्देशित करती है और सोचने पर विवश करती है।

'शेरनी' को देखते हुए स्वाभाविक रूप से यह सवाल उठता है कि क्यों भारत की बहुत गिनी-चुनी फिल्मों में पर्यावरण एक केंद्रीय विषय या चिंता के रूप में दिखता है? शायद एक बड़ी बजह यह है कि ऐसे कथानकों का नाटकीय निवाह नहीं हो पाता। दूसरा, ऐसे विषय ज्यादा रिसर्च तथा लोकेशन की विश्वसनीयता की मांग करते हैं। थोड़ा पीछे जाएं तो विभाजन पर केंद्रित फिल्म 'गर्म हवा' के चर्चित निर्देशक एमएस सच्चु ही सबसे पहले सिनेमा में पारिस्थितिकों की पड़ताल करते पाए जाते हैं। उनकी फिल्म 'सूखा' (1983) में एक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में सूखाग्रस्त इलाकों की कहानी सामने लाती है। कन्नड़ लेखक यूआर अनंतमूर्ति की कहानी पर आधारित इस फिल्म में द्यूबूबैल लगाकर सूखाग्रस्त इलाकों में पानी पहुंचाने के हर प्रयास को राजनेता और नौकरशाह नाकाम करने में जुटे हैं। आरंभ में ही एक वाइड एंगल शॉट के जरिए हम तपती बजर भूमि में मृत जानवर देखते हैं और फिल्म सीधे अपने विषय पर केंद्रित हो जाती है। इससे पहले यह फिल्म कन्नड़ में 'बारा' के नाम से बनी थी और इसे उस वर्ष कन्नड़ की सर्वश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार मिला था। फिल्म की अनुशंसा में कहा गया था कि यह अपनी पटकथा और सशक्त निर्देशन के माध्यम से सूखा प्रभावित जिले में सामाजिक-राजनीतिक स्थिति का गहन विश्लेषण करती है।

कुछ साल बाद पूना फिल्म इंस्टीट्यूट से निकले निर्देशक अशोक आहूजा अपनी दूसरी फिल्म 'वसुन्धरा' (1988) के जरिए पर्यावरण के मुद्दे को गंभीरता से उठाते हैं। नसीरुद्दीन शाह, नीना गुप्ता, बैंजामिन गिलानी और टॉम ऑल्टर इस फिल्म में मुख्य भूमिकाओं में थे। फिल्म समीक्षक मनमोहन चड्हा लिखते हैं, -'वसुन्धरा' को पर्यावरण के विषय को बेहतर हांग से प्रस्तुत करने वाली फिल्म भी कहा जा सकता है। 'वसुन्धरा' अत्यंत जटिल और मूलभूत प्रश्नों से जूझती है। आहूजा विस्तार से तथा एक कथा के माध्यम से बताते हैं कि पृथ्वी की ऊपरी सहत नष्ट हो जाने का क्या अर्थ है। एक पेंड काटे जाने या पकड़ों से पत्थर निकालने के लिए एक विस्फोट करने की इस समाज तथा प्रकृति को कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। यह पृथ्वी एक इंच जमीन की उपजाऊ परत बनाने में सैकड़ों बरस लगाती है। उसी उपजाऊ परत को हम लगातार नष्ट कर रहे हैं। फिल्म सुदूर हिमालयी शहर के चूना पत्थर से समृद्ध इलाकों की कहानी बयान करती है, जहाँ भारतीय मूल की और स्विट्जरलैंड में पली-बड़ी एक युवा महिला पारिस्थितिकीविद शोध परियोजना के लिए आती है। सन् 1980 में भारत के सर्वोच्च

न्यायालय ने एक जनहित याचिका पर सुनवाई की थी और अंधाधुंध खनन से होने वाले पर्यावरणीय क्षरण को देखते हुए खदानों को बंद करने का आदेश दिया था। यह पूरी फिल्म वास्तविक लोकेशन पर फिल्माई गई थी। 'वसुन्धरा' एक भूली-बिसरी फिल्म है जो पारिस्थितिक संतुलन को संरक्षित करने के लिए हमें अपने अधिकारों और कर्तव्यों के बारे में बताती है। गिरीश कर्नाड ने कन्नड़ फिल्म 'चेलुवी' (1992) में मनुष्य और प्रकृति के संबंधों को एक दार्शनिक स्तर पर समझने का प्रयास किया था। उन्होंने अपने मिथकीय और लोकगाथाओं पर आधारित नाट्य रचनाओं की तरह चिरपरिचित शैली में एक लोककथा के माध्यम से प्रकृति के मानवीकरण को प्रस्तुत किया था। फिल्म की नायिका चेलुवी खुद को एक पेंड में बदल सकती है। निर्देशक गिरीश कर्नाड ने भौतिक सुखों की खोज में प्रकृति के विनाश की प्रवृत्ति पर सवाल खड़े किए हैं। इन आरंभिक फिल्मों के जरिए पर्यावरण की चिंताओं ने धीरे-धीरे अपनी जगह बनाई और छोटे स्तर पर ही सही मीडिया और बुद्धिजीवियों का ध्यान आकर्षित किया। बाद के सालों में पर्यावरण की चिंता अकादमिक गोष्ठियों और अखबारों के पत्रों से सीधे जमीन पर उत्तर आई। पारिस्थितिकीय असंतुलन उन लोगों की चिंताओं में शामिल हो गया जो सीधे उससे प्रभावित हो रहे थे। वहीं मुख्यधारा का मीडिया जैसे सोची-समझी रणनीति के तहत ऐसे बहुत सारे विषयों पर चुप दिखने लगा। मेधा पटेकर और सुंदरलाल बहुगुणा ने जन-आंदोलनों के माध्यम से आम जनता को पर्यावरण के मुद्दे से जोड़ा। विकास के नाम पर विस्थापन एक बड़ी चिंता बनकर उभरा। यहीं वह बक्त था जब दुनियाभर के कई पर्यावरणविदों ने विकास के नाम पर मानव विस्थापन और पारिस्थितिकी के विनाश को मुद्दा बनाया। भारत में बड़ी बांध परियोजनाओं के निर्माण का असर स्थानीय समुदायों पर पड़ने लगा और इसने एक जन-आंदोलन का रूप ले लिया। इस मुद्दे को एक और कन्नड़ फिल्म 'भूमि गीत' (1997) में उठाया गया था। इस फिल्म में दिखाया गया था कि कैसे बांध बनने पर लोग अपनी ही जमीन से उजड़ जाते हैं। केसरी हरवृ के निर्देशन में बनी इस फिल्म ने पर्यावरण संरक्षण श्रेणी में सर्वश्रेष्ठ फिल्म में राष्ट्रीय पुरस्कार भी जीता। जहाँ 'सूखा' पानी के मुद्दे को एक राजनीतिक पृष्ठभूमि में देखने का प्रयास करते हैं, गिरीश मलिक अपनी पहली फिल्म 'जल' (2014) में कच्छ के रण का परिवेश लेकर आते हैं और पानी की समस्या को सामुदायिकता के स्तर पर समझने का प्रयास करते हैं। कहानी शुरू होती है कि कच्छ के दो गांवों से जहाँ पर दूर-दूर तक पानी नहीं है।

पानी को लेकर आपसी झगड़े हो रहे हैं। पानी खोजने वाले नवयुवक बक्का को लोग पानी का देवता कहते हैं। गांव में एक खारे पानी का तालाब होता है जहाँ हर साल फ्लैमिंगो पक्षी आते हैं लेकिन खारा पानी को पीने से मर जाते हैं। रूस से एक पक्षी वैज्ञानिक लड़की गांव में अपनी टीम के साथ आती है और इन पक्षियों को मरने से बचाने के लिए कच्छ में कुएं और तालाब बनाने का फैसला करती है। 'जल' फिल्म पानी के संकट को परिहास से भरी स्थितियों के जरिए प्रस्तुत करती है। पानी के संकट की गंभीरता व पारिस्थितिकी असंतुलन तथा लोगों के जीवन और उनकी सामाजिक अंतसंबंधों की बारीकी से पड़ताल करती है। 'जल' का बुसान इंटरनेशनल फिल्म फैस्टिवल और भारत के अंतरराष्ट्रीय फिल्म फैस्टिवल के इंडियन पैनोरामा सेक्शन में विशेष उल्लेख हुआ। एक और उल्लेखनीय फिल्म फिल्म 'पाणी' (2019) जो मराठी भाषा में बनी है, महाराष्ट्र के एक सूखा प्रभावित गांव नागदरवाड़ी की पृष्ठभूमि पर आधारित एक प्रेम कहानी है। यह उन चुनौतियों को समने लाती है जो एक गांव में पानी की खेती के आधुनिकीकरण की जहोजहद से जुड़ी हैं। फिल्म का नायक हनुमंत प्रयास करता है कि उसके इलाके को पर्याप्त पानी मिल सके। इस फिल्म ने भी न केवल पर्यावरण संरक्षण श्रेणी में सर्वश्रेष्ठ फिल्म में राष्ट्रीय पुरस्कार जीता, बल्कि न्यूयॉर्क फिल्म महोत्सव में इसकी स्क्रीनिंग हुई और फिल्म को अंतरराष्ट्रीय ख्याति मिली। फिल्म का निर्देशक आदित्य कोठरे ने किया था और यह उनकी पहली फिल्म थी। इस फिल्म की निर्माता प्रियंका चोपड़ी थीं। भारत में जिस तेजी से औद्योगीकरण हुआ उतनी ही तेजी से प्रदूषण का संकट भी बढ़ता गया। कारखानों से निकलने वाले हानिकारक रसायन, प्रदूषित जल, विषेश गैसें, धूल, राख, धुआं ने व्यापक स्तर पर मानव जीवन को प्रभावित किया। इस विषय पर फिल्म में कम बनी हैं मगर दो फिल्मों का विशेष रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए। 'भोपाल एक्सप्रेस' (1999) भोपाल त्रासदी को कीरीब से देखने का प्रयास करती है। यूनियन कार्बाइड कारखाने से कई वर्ग किलोमीटर में फैलने जहरीले गैस के रिसाव और उससे हजारों लोगों की मौत को यह फिल्म देखने का प्रयास करती है। कहानी एक नवविवाहित जोड़े और उनके दोस्तों के नजरिए से आगे बढ़ती है। निर्देशक महेश मधाई की इस फिल्म में दिखाया गया है कि कैसे मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करने वाला औद्योगीकरण आम लोगों के जीवन पर कभी न भरने वाला एक घाव छोड़ जाता है। औद्योगिक प्रदूषण पर दूसरी फिल्म है अपर्ण सिंह की 'झारादा' (2017), जो बठिंडा के

ताप विद्युत संयंत्रों और कारखानों की पृष्ठभूमि पर है। इस फिल्म को एक श्रीलर की शैली में बनाया गया है। एक पूर्व-सेना अधिकारी की बेटी को जानलेवा बीमारी का पता चलता है। धीरे-धीरे यह रहस्योदातन होता है कि यह धरती में मौजूद पानी में रिस रहे रासायनिक तत्वों के कारण है। केमिकल की रिवर्स बोरिंग के कारण पंजाब के उस इलाके का पानी संक्रमित हो चुका है। जमीन जहरीली हो गई है और उस इलाके में कैंसर तेजी से फैला है।

औद्योगिक माफिया और राजनीतिक पार्टियों का यह गठजोड़ आम नागरिकों को एक धीमी मौत की तरफ ले जा रहा है। इस बीच, एक पत्रकार को मामले की जानकारी मिलती है और उसका अपहरण कर लिया जाता है। पूर्व-सेना अधिकारी, पत्रकार की प्रेमिका और एक एनआईए अधिकारी मामले को सुलझाने और पीड़ित लोगों को न्याय दिलाने का प्रय

# एशिया में महिलाओं में 25 और पुरुषों में 24 प्रतिशत बढ़ा फेफड़े का कैंसर, वायु प्रदूषण जिम्मेवार...

मुंबई। वैज्ञानिकों की एक अंतर्राष्ट्रीय टीम ने दुनिया भर में फेफड़ों के एडेनोकार्सिनोमा (एलएडीसी) के मामलों में वृद्धि के लिए बढ़ते वायु प्रदूषण को जिम्मेदार माना है। एडेनोकार्सिनोमा एक प्रकार का फेफड़े का कैंसर है। अध्ययन ने यह भी निष्कर्ष निकाला है कि दुनिया भर में तंबाकू की खपत कम होने से फेफड़ों में होने वाले स्क्रैमस सेल कार्सिनोमा (एलएससीसी) कैंसर भी कम हुआ है।

यह अध्ययन सिंगापुर की नानयांग टेक्नोलॉजिकल यूनिवर्सिटी, (एनटीयू सिंगापुर) के नेतृत्व में किया गया है। शोध में सुझाव दिया गया है कि इस कैंसर के लिए आनुवांशिक, पर्यावरणीय और जीवन शैली एक अहम भूमिका निभाती है। जबकि फेफड़े के स्क्रैमस सेल कार्सिनोमा अक्सर धूम्रपान करने से होता है। इस अध्ययन से पता चला है कि पृथ्वी के वायुमंडल में ब्लैक कार्बन की 0.1 माइक्रोग्राम प्रति घन मीटर वृद्धि हुई, जिसे कालिख के रूप में भी जाना जाता है। कालिख के कारण दुनिया भर में एडेनोकार्सिनोमा (एलएडीसी) की घटनाओं में 12 फीसदी की वृद्धि हुई है। ब्लैक कार्बन एक तरह का प्रदूषक है जिसे पीएम 2.5 के तहत वर्गीकृत किया गया है। शोधकर्ताओं ने पाया कि यह 1990 से 2012 तक वैश्विक स्तर पर सालाना 3.6 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर बढ़ा है। इस बीच, धूम्रपान के प्रसार में 1 फीसदी की कमी आने का मतलब वैश्विक स्तर पर एलएससीसी की घटनाओं में 9 फीसदी की गिरावट के बराबर है। दुनिया भर में धूम्रपान करने वालों की संख्या में सालाना 0.26 फीसदी की कमी आई है, जो 1990 से 2012 तक लगभग 6 फीसदी तक कम हो गई है। ए कैंसर जर्नल फॉर विलनिशियन के अनुसार 2020 में अनुमानित 18 लाख मौतों के लिए फेफड़े का कैंसर प्रमुख रूप से जिम्मेवार था। दुनिया भर के आकड़ों ने फेफड़ों के कैंसर के रुझानों पर प्रकाश डाला है, लेकिन यह समझना कि उनके पीछे क्या कारण हो सकते हैं, यह स्पष्ट नहीं है, जबकि

एनटीयू के नेतृत्व वाले अध्ययन ने कैंसर की घटनाओं को तंबाकू के सेवन और वायु प्रदूषण से जोड़ा है। एनटीयू के वरिष्ठ उपाध्यक्ष और स्वास्थ्य और जीव विज्ञान के प्रोफेसर जोसेफ सुंग ने कहा कि हमारे अध्ययन में, हम यह निर्धारित करने में सफल रहे कि दुनिया भर में फेफड़ों में एडेनोकार्सिनोमा कि वृद्धि वायु प्रदूषण के कारण हो सकता है। पिछले दशकों में यह हमेशा स्पष्ट नहीं रहा है कि दुनिया भर में महिलाओं और धूम्रपान न करने वालों को फेफड़ों का कैंसर कैसे हो रहा है। उन्होंने कहा फेफड़ों के कैंसर को लेकर हमारा अध्ययन विशिष्ट प्रकार के कारणों में पर्यावरणीय कारकों के महत्व को भी शामिल करता है। प्रमुख अध्ययनकर्ता एनटीयू के एशियन स्कूल ऑफ एनवायरनमेंट के एसोसिएट प्रोफेसर स्टीव यिम ने कहा हमारे अध्ययन ने हमें फेफड़ों के एडेनोकार्सिनोमा की बढ़ती प्रवृत्ति के पीछे के कारण के रूप में एक इशारा किया है, जबकि बाबूजूद इसके धूम्रपान करने वाले लोगों की संख्या घट रही है। उन्होंने कहा हमारे निष्कर्ष वायु प्रदूषक उत्सर्जन, विशेष रूप से ब्लैक कार्बन को कम करने की आवश्यकता पर जोर देते हैं। अध्ययन ने फेफड़ों के कैंसर के आंकड़ों के लिए 1990 से 2012 तक विश्व स्वास्थ्य संगठन के आंकड़ों का विश्लेषण किया, जबकि 1980 से 2012 तक आयु-मानक धूम्रपान प्रसार दर के लिए डेटासेट एक स्वतंत्र वैश्विक स्वास्थ्य अनुसंधान केंद्र, इंस्टीट्यूट फॉर हेल्थ मेट्रिक्स एंड इवैल्यूएशन से लिया गया था। प्रदूषण के आंकड़े नेशनल एरोनॉटिक्स एंड स्पेस एडमिनिस्ट्रेशन (नासा) से प्राप्त किए गए थे। विश्लेषण किए गए प्रदूषक ब्लैक कार्बन, सल्फेट और पीएम 2.5 थे। विभिन्न महाद्वीपों में अलग-अलग लिंगों के बीच फेफड़ों के कैंसर और ब्लैक कार्बन के बीच संबंध भी अलग तरह के होते हैं। उदाहरण के लिए, प्रदूषक और एलएडीसी और एलएससीसी दोनों के बीच की कड़ी पुरुषों की तुलना में महिलाओं में अधिक मजबूत पाई गई थी। दुनिया भर में ब्लैक कार्बन की 0.1 माइक्रोग्राम प्रति क्यूबिक मीटर (



वार्षिक वृद्धि पुरुषों में 9 फीसदी की तुलना में महिलाओं में एलएडीसी में 14 फीसदी की वृद्धि पाई गई। जहां तक एलएससीसी का संबंध है, प्रदूषक में समान वृद्धि महिलाओं में 14 फीसदी की वृद्धि से जुड़ी हुई थी, जबकि विपरीत लिंग में यह 8 फीसदी थी। शोधकर्ताओं ने कहा कि अध्ययन में, दुनिया भर के आंकड़ों से पता चलता है कि एलएससीसी में कमी पुरुषों में अधिक महत्वपूर्ण है और कमी की प्रवृत्ति तंबाकू की खपत में कमी के साथ मेल खाता है। हालांकि, तंबाकू के उपयोग की घटती प्रवृत्ति के बाबूजूद, एशिया, उत्तरी अमेरिका और ओशिनिया, जहां महिला धूम्रपान करने वालों की संख्या में 1 फीसदी की वृद्धि उन भौगोलिक क्षेत्रों में कैंसर की 12 फीसदी वृद्धि से जुड़ी थी। वैज्ञानिकों ने समझाया कि दुनिया भर में धूम्रपान करने वालों का कुल प्रतिशत कम होने के बाबूजूद, 1980 से 2012 तक बड़े पैमाने पर जनसंख्या वृद्धि के कारण दुनिया भर में धूम्रपान करने वालों की संख्या अधिक थी। जिसके परिणामस्वरूप धूम्रपान करने वाली महिलाओं की संख्या में 7 फीसदी की वृद्धि हुई। एशिया में पुरुषों के बीच एलएडीसी में

## प्रदूषण का स्तर 123 फीसदी तक बढ़ा

अहमदाबाद। शोधकर्ताओं ने मॉडल के आधार पर पता लगाया कि कोविड-19 के दौरान प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय बंदरगाहों में शिपिंग क्षेत्र से उत्सर्जन में काफी वृद्धि हुई है। शोध के निष्कर्ष नासा अर्थ औब्जर्वेटरी के निष्कर्षों के विपरीत हैं। जिसमें कहा गया था कि औद्योगिक प्रक्रियाओं पर रोक लगाने और महामारी के दौरान मानव गतिविधि में कमी से आम तौर पर वायु प्रदूषण कम होता है। सिंगापुर की एनटीयू शोध टीम ने पाया कि महामारी के दौरान उत्सर्जन दोगुना यानी 65 फीसदी तक बढ़ गया था। वहीं कैलिफोर्निया और जर्मनी के हैम्बर्ग में एक चौथाई यानी 27 फीसदी से अधिक पाया गया। जिसमें क्रमशः 94 फीसदी और 142 फीसदी की औसत वृद्धि देखी गई। कोविड-19 का शिपिंग उद्योग पर काफी प्रभाव पड़ा है। व्यापार और विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन ने पाया कि कई बंदरगाहों में जहाजों और चालक दल पर कोविड-19 से संबंधित बाधाओं ने कार्यबल की कमी और परिचालन चुनौतियों और उत्पादकता को प्रभावित किया। जबकि ग्लोबल शिपिंग इंटरिजेस प्रोवाइडर एसएंडपी ग्लोबल प्लैट्फॉर्म के मुताबिक कोविड-19 की पहली लहर के बाद कागों मांग में अभूतपूर्व और अस्थिर उछल आया। इस दौरान दुनिया भर में लगभग हर बंदरगाह पर और देशी हुई। एनटीयू के अध्ययन ने मॉडल के आधार पर पता लगाया कि बंदरगाह में लंबे समय तक बदलाव में लगने वाले समय के कारण सभी चार बंदरगाहों में जहाज के उत्सर्जन में औसतन 79 फीसदी की वृद्धि हुई। उत्सर्जन की यह गणना जुलाई 2020 से जुलाई 2021 तक की गई है, जब महामारी चरम पर थी। निष्कर्षों की तुलना साल 2019 से की गई, जिसे व्यापार सामान्य उत्सर्जन के साथ आधारभूत वर्ष के रूप में लिया गया है। शोध में जिन प्रदूषकों का अध्ययन किया गया उनमें कार्बन डाइऑक्साइड, सल्फर ऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड, पार्टिकुलेट मैटर, कार्बन मोनोऑक्साइड और मीथेन शामिल थे।